भागवत और शैव संप्रदाय—धर्म के दृष्टिकोण से ई० पू० छठी शताब्दी का विशेष महत्त्व था। ब्राह्मणधर्म में परिवर्तन की गति तेजी थी। इस युग में इंद्र का स्थान **शक्र** ले चुका था और **वैश्रवण**, कार्तिकेय, उमा-हेमवती इत्यादि देवी-देवताओं की प्रतिष्ठा बढ़ रही थी। स्ट्रैबो और कर्टियस ने **वृक्षों** और जल-देवताओं की उपासना का भी उल्लेख किया है। मानव-रूप में देवता की कल्पना होने लगी थी। मूर्तियों और मंदिरों का प्रयोग भी शुरू हो चुका था। मूर्तियों के प्रयोग का उल्लेख कर्टियस के विवरण में मिलता है। पंतजलि के लेखों से भी इस प्रमाण का समर्थन मिलता है। अहिंसा का प्रचार तो श्रमण और परिव्राजक लोग कर ही रहे थे, साधुवृत्ति का विकास भी हो रहा था। संसार और कर्म का सिद्धांत भी दृढ़ हो रहा था। भक्ति और भागवतधर्म का बीजारोपण भी इसी युग में हुआ। भक्ति का सूत्रपात उपनिषद में हुआ और इसके मूलसिद्धांत का प्रतिपादन वासुदेव कृष्ण ने किया। भागवतधर्म का सिद्धांत भगवद्गीता में निहित है। धीरे-धीरे यह एक स्वतंत्र संप्रदाय के रूप में महत्त्वपूर्ण हो गया। भागवतधर्म आगे चलकर **वैष्णवधर्म** नाम से प्रचलित हुआ। **छान्दोग्य उपनिषद** में उन्हें (कृष्ण को) एक सौरपुरोहित के शिष्य की भाँति व्यक्त किया गया है, जिसने धर्माचरण को उतना ही उपयोगी बताया जितना कि यज्ञकर्ता पुरोहितों को

दक्षिणा देना। **महाभारत** में उनका उल्लेख यादवों के सात्वत या वृष्णिजाति के राजकुमार की भाँति किया गया है, जिसने मगध में नरबलि को बंद किया और कुरुदेश में स्त्रीजाति के अपमान का बदला लिया। **भगवद्गीता** में उन्हें ही निष्काम कर्म और कर्मयोग-भक्तियोग प्रतिपादित करते हुए बताया गया है। पाणिनि भी वासुदेव के भक्तों को जानते थे। सूर्य, विष्णु आदि के समर्थक थे कृष्ण के गुरु घोर, जिनका उल्लेख **छांदोग्य उपनिषद** में मिलता है। एक विद्वान के अनुसार सूर्यपूजा[1] के परिणामस्वरूप ही (वासुदेव के) भागवतधर्म का उत्थान हुआ। शांतिपर्व से इस कथन का समर्थन भी होता है। गीता[2] में कृष्ण ने जिस दर्शन का प्रतिपादन किया है, उससे वैष्णवधर्म और भागवतधर्म को बड़ा प्रोत्साहन और बल मिला। कृष्ण के अनुसार ज्ञान, कर्म और भक्ति से मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। ज्ञान का मार्ग कठिन है। परंतु कर्मयोग से मनुष्य अपना उद्देश्य पूरा कर सकता है। भक्तिमार्ग और भी सरल है और इससे मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। गीता में धार्मिक सहिष्णुता का भी उदाहरण मिलता है। कृष्ण के अनुसार सभी मार्गों से मनुष्य मोक्ष के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। विष्णुनारायण का समीकरण इसी युग में हुआ। वासुदेव कृष्ण उसी के अंश माने जाने लगे। **चार व्यूह** उस धर्म के विकास की विशेषता माने जाते हैं—ये चारों व्यूह हैं—**शंकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध** और **महाभूत** (तत्त्व)। इनमें प्रथम तीन तो अन्धकवृष्णि-जाति के प्रधान व्यक्ति हैं, जिन्हें कृष्ण के साथ देवत्व प्रदान किया गया।

ई० पू० छठी शताब्दी में भागवतसंप्रदाय मथुरा तक ही सीमित था। पाणिनि और मेगास्थनीज के लेखों से इसका प्रमाण भी मिलता है। वासुदेव के भक्तों की तुलना भारतीय हेराक्लीज के पूजकों के साथ की जा सकती है, जिसकी उपासना मथुरा के सूरसेनों में ई० पू० चौथी शताब्दी में प्रचलित थी। यादवों के विस्तार के साथ-साथ इस धर्म का विस्तार पश्चिमी भारत और उत्तरी दक्कन में हुआ। ई० पू० दूसरी शताब्दी में यूनानी शासक एनटियलकीड्स के राजदूत हेलियोडोरस ने ग्वालियर के वेशनगर नामक स्थान में एक गरुड़ध्वज की स्थापना की और उसमें उसने अपने को भागवत कहा है। इससे स्पष्ट है कि विदेशी लोग भी इस धर्म से काफी प्रभावित हुए थे। ई० पू० प्रथम शताब्दी के घोसुण्डी-अभिलेख से यह स्पष्ट है कि उस समय राजपूताना में भागवतधर्म की विशेष प्रधानता थी। उसी शताब्दी के नानाघाट-अभिलेख से भी यह स्पष्ट है कि महाराष्ट्रक्षेत्र में भी वासुदेवधर्म की प्रधानता थी। मेगास्थनीज के विवरण से यह ज्ञात होता है कि सुदूर दक्षिण में पाण्ड्य-राज्य के हिस्सों में भी इस धर्म का प्रसार था। कुछ लोग तो यहाँ तक मानते हैं कि दक्षिण का नगर 'मदुरा' मथुरा का ही विकृत रूप है। ई० पू० दूसरी शताब्दी तक यह धर्म काफी प्रभावशाली हो चुका था। एक सीरियन परंपरा के अनुसार डॉ० रमेशचन्द्र मजुमदार ने यह निष्कर्ष निकाला है कि आरमेनिया में इस धर्म का प्रचार ई० पू० दूसरी शताब्दी में था। इस संप्रदाय का प्रभाव भारतीय साहित्य और कला पर भी पड़ा। बौद्धों के प्रभाव से बचने के लिए ब्राह्मणों ने इस संप्रदाय को प्रारंभ में ही हिंदूधर्म के अधीन कर लिया और धीरे-धीरे यह हिन्दूधर्म का एक प्रमुख अंग हो गया। प्रारंभ में कट्टर ब्राह्मणधर्मावलंबी इसके विरोधी थे। इस संघर्ष का प्रमाण महाभारत में भी मिलता है। भागवतधर्म की जनप्रियता के कारण वैदिक यज्ञों और कर्मकांडों का महत्त्व घट गया। ब्राह्मणधर्म में मूर्तिपूजा का विकास भागवत धर्मावलंबियों के प्रयास से शुरू हुआ। हिंदूधर्म में इसके मिल जाने से हिंदूधर्म का विस्तार हुआ। इस धर्म ने भी अहिंसा का समर्थन किया और बाद में बुद्ध को भी विष्णु का अवतार बना लिया। जैन लोग भी वासुदेव और बलदेव को अवतार मानते हैं।

शैवधर्म—इस काल में (ई० पू० छठी-आठवीं शताब्दी में) प्रतिद्वंद्वी संप्रदायों का अभाव नहीं था। इनमें सबसे प्रधान शैव थे, जो बाद में चलकर शिवभागवत, माहेश्वर या पाशुपत कहे गए। **श्वेताश्वतर उपनिषद** में शिव विश्व के उपास्य देव हैं। उनकी भक्ति से अज्ञान दूर हो जाता है, मृत्यु का फंदा कट जाता है और स्थायी शांति प्राप्त होती है। शिव सही अर्थ में शुद्ध भारतीय देवता हैं और उनका प्राचीनतम विवरण हमें सिंधुघाटी में मिलता है। ऋग्वेद में रुद्र का जो विवरण प्राप्त है, वह शिव से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है और यजुर्वेद में दोनों के समन्वय का प्रमाण भी है। शिव का उत्कर्ष **श्वेताश्वतर उपनिषद** में हुआ। शैवसंप्रदाय की स्थापना का श्रेय **लकुलिन्** या नकुलिन् को दिया जाता है। विभिन्न शिलालेखों (उदयपुर के नाथद्वार का एकलिंग-अभिलेख और चंद्रगुप्त द्वितीय का मथुरा-अभिलेख) के आधार पर यह कहा जाता है कि

लकुलिन् एक ऐतिहासिक व्यक्ति था। उसने 'पाशुपतमाहेश्वर संप्रदाय' की स्थापना की। पाशुपतधर्म के मुख्य सिद्धांत हैं—**कार्य, कारण, योग, विधि** और **दुःखांत**। इन पाँच सिद्धांतों के आधार पर मनुष्य मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। धीरे-धीरे शैवसंप्रदाय-चार भागों में विभक्त हो गया—**पाशुपत, शैव, कापालिक** और **कालामुख**[1]।

मेगास्थनीज ने जिस डायोनीसस की पूजा का उल्लेख किया है, वह शिव ही थे। पतंजलि शिव की प्रतिमा और उनके समर्थकों का उल्लेख करते हैं। कहा जाता है कि पैसे के लिए मौर्य-शासक शिव की प्रतिमा बनाकर भी बेचते थे। अशोक का उत्तराधिकारी जलौक शैव था। कुषाण शासक भी शैव थे। रामायण और महाभारत में भी शैवपरंपरा का उल्लेख है। कट्टर ब्राह्मणों ने बहुत दिनों तक शैव संप्रदाय का विरोध किया। शैवविरोधी राजा दक्ष की कहानी प्रसिद्ध है। दक्षिण भारत में शैवसंप्रदाय विशेष रूप से प्रचलित था। संगमयुगीन साहित्य में शिव को सर्वश्रेष्ठ उपास्यदेव माना गया है। अन्य संप्रदायों की तरह बाद में शैवसंप्रदाय भी हिंदूधर्म का अंग बन गया। समन्वय के लिए प्रयत्न बराबर चलते रहे और धीरे-धीरे भागवतों और पाशुपतों या शैव-भागवतों के देवता ब्राह्मणों के प्रधान देव से संभूत माने गए। इससे **त्रिमूर्ति** के सिद्धांत की उत्पत्ति हुई, जिसका पूर्ण विकास बाद के युग में हुआ।